



ISSN Print: 2394-7500  
 ISSN Online: 2394-5869  
 Impact Factor: 5.2  
 IJAR 2016; 2(12): 177-180  
 www.allresearchjournal.com  
 Received: 28-10-2016  
 Accepted: 29-11-2016

**इंदुबाला**  
 V-P-O सिंधवी खेड़ा जींद  
 हरियाणा

## वैदिक साहित्य में भाषा वैज्ञानिक चिन्तन

### इंदुबाला

ध्वनि-विज्ञान का अध्ययन जिस दिलचस्पी से प्राचीन भारत में किया गया था उसका उदाहरण प्राच्य संसार में दुर्लभ है। इस रूचि के बीज ऋग्वेद में भी कहीं-कहीं मिलते हैं, जिसमें कि भाषा की महिमा पर पूरे दो सूक्त हैं। इसमें भाषा के विकास की तीन अवस्थाओं का निर्देश किया गया है— (1) अव्यक्त भाषा, (2) आदिम-व्यक्त-भाषा, (3) वास्तविक भाषा। अव्यक्त भाषा के विषय में ऋग्वेद में कहा गया है कि चार प्रकार की भाषाओं में ये तीन तो गूढ़ हैं, अव्यक्त होने के कारण निश्चल हैं। अव्यक्त अवस्था की नीचतम अवस्थिति (शतपथ ब्राह्मण की व्याख्या के अनुसार) सांपों का सीत्कार अथवा कीड़ों की भिनभिनाहट होती है, इससे ऊपर की अवस्था पक्षियों का चहचहाना है, तथा इससे भी अधिक ऊपर की अवस्थिति पशुओं की ध्वनियां होती हैं।<sup>1</sup> अव्यक्त के लिए इस मन्त्र में 'गुहा' शब्द का प्रयोग किया गया है, योग सिद्धान्त के अनुसार तो इस अव्यक्त भाषा के तीन रूप-परा, पश्यन्ती और अध्यमा हैं, जिनका साक्षात्कार योगियों को ही हो सकता है; किन्तु निरुक्त के अनुसार ये कीटादि की तीन प्रकार की ध्वनियां हैं, जिन्हें मनुष्य नहीं बोलते। यह अर्थ अधिकतर ग्राह्य भी प्रतीत होता है, क्योंकि मंत्र के वचन ये हैं— तुरीयं वाचो मनुष्याः वदन्ति (चौथी भाषा की मनुष्य बोलते हैं)। जहाँ तक द्वितीय अवस्था का प्रश्न है उसके विषय में ऋग्वेद में कहा गया है कि मानव ने आदिम व्यक्त भाषा का प्रयोग पदार्थों के नामकरण के लिए किया। इसी का विकास भाषा की तृतीय अवस्था अर्थात् 'वास्तविक भाषा' के रूप में हुआ, जिसकी रचना (परिष्कार) विद्वानों ने उसी प्रकार की जैसे कि मनुष्य छाननी से आटे को छान कर साफ करता है।<sup>2</sup>

अव्यक्त तथा व्यक्त भाषा के रूपों में बड़ा अन्तर है, यह प्रश्न विवादास्पद हो सकता है, क्योंकि यह बतलाना कठिन है कि अव्यक्त भाषा का अन्त तथा व्यक्त भाषा का प्रारम्भ किस बिन्दु पर हुआ। इसके अतिरिक्त यदि इस बात को सर्वथा मान्य समझ लिया जाए कि मानव ने भाषा के विषय में अभिव्यक्त ऋग्वेद के विचार भाषा शास्त्र के आदिकाल के इतिहास के सम्बन्ध में एक दिलचस्प देन है।<sup>3</sup> इस रूचि का अगला विकास ऐतरेय ब्राह्मण में देखा जाता है, जिसमें कि भाषा को इन्द्र द्वारा उद्भावित कहा गया है तथा इसकी अक्षय प्रकृति के कारण इसकी तुलना समुद्र से की गई है। इसमें विधान किया गया है कि पदों का गान मध्यमा वाक् से होना चाहिए जो कि आत्मा को विशुद्ध करती है। यदि आश्वलायन श्रौत-सूत्र की परम्परागत सामग्री को इस ब्राह्मण के रचना-काल के वास्तविक उच्चारण पर आधारित माना जाए तो 'न्यूडूख' के उच्चारण के विषय में विहित इसका विधान इस बात का संकेतक है कि इस युग में ही ध्वनि-शास्त्र का अध्ययन पर्याप्त उन्नत अवस्था को प्राप्त हो चुका था। इस उच्चारण का विशेष विधान उन विशेष मंत्रों के उच्चारण के सम्बन्ध में किया गया है जो कि नवरात्र महोत्सव के चौथे दिन बोले जाते थे। इसमें एक अकेले स्वर को विभिन्न मात्राओं एवं स्वराघात से सोलह बार उच्चारित किया जाता था। इसके अनुसार 'आपो रवतीः क्षयथा' के 'आपो' के 'ओ' का उच्चारण पहले (1) तीन मात्रा परिमाण में तथा उदात्त स्वर के साथ किया जाता था, 'ओ' (2) फिर पांच बार आघात-हीन ह्रस्व 'ओ' अर्थात् अर्ध 'ओ' की भांति, (3) पुनः प्रथम प्रकार से अर्थात् ह्रस्व 'ओ' अर्थात् 'ओ' की भांति (4) पुनः पांच बार द्वितीय प्रकार के 'ओ' अर्थात् 'ओ' की भांति, (5) फिर प्रथम प्रकार के 'ओ' की भांति, (6) तीन बार द्वितीय प्रकार के 'ओ' अर्थात् अर्ध 'ओ' की भांति। इस प्रकार उपर्युक्त मंत्र विशेष में 'आपो' के अन्तिम 'ओ' का उच्चारण निम्नलिखित रूपों में होता था— ओ, ओ ओ ओ आ, ओ, ओ ओ ओ ओ ओ, ओऊ, ओ ओ ओ। 'आपो' के 'ओ' की अर्धमात्रा के सम्बन्ध में इस स्थल पर पंतजलि कहते हैं कि सामवेद की सात्यमुग्नि तथा राणा यणीय शाखाओं में ए और ओ का उच्चारण ह्रस्व होता है अर्थात् अधर्ममात्रिक। पंतजलि के अनुसार इस प्रकार के उच्चारण का विधान कतिपय प्रातिशख्यों तथा सामवेद की ध्वनि सम्बन्धी शाखाओं में ही विहित था। " ह्रस्व 'ओ' की मात्रा न तो लोक में तथा न बेद में ही पाई जाती है।" दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि 'ए' और 'ओ' की 'लघुतर' मात्रा केवल क्षेत्रीय बोलियों में ही पाई जाती थी।<sup>4</sup>

**Correspondence**  
**इंदुबाला**  
 V-P-O सिंधवी खेड़ा जींद  
 हरियाणा

इस सामग्री के विश्लेषण से पता चलता है कि अभी ध्वनि विज्ञान का अध्ययन वेदपाठ की आवश्यकता के अधीन ही किया जाता था; किन्तु इनके सूक्ष्म विवरणों से पता चलता है कि ध्वनि-विज्ञान के अध्ययन की रूचि अपनी उन्नति की अग्रिम अवस्था को प्राप्त हो चुकी थी। 'ऐतरेय ब्राह्मण' के समय में इस रूचि का विकास हो चला था, इसमें विभिन्न ध्वनियों का निरूपण प्रकृति के विभिन्न पदार्थों के रूप में किया गया है। इस शोध-पत्र में निम्नलिखित सन्दर्भ विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

1. इसमें व्यंजनों की तुलना रात्रि से तथा स्वरों की दिन से की गयी है। ऐसी सम्भवतः इसलिए किया गया प्रतीत होता है कि सामान्य वाग्व्यहार में व्यंजनों की अपेक्षा स्वर अधिक स्पष्ट होते हैं, उनका प्रत्यक्षीकरण भी अधिक स्पष्ट रूप में होता है।
2. इसके अतिरिक्त व्यंजनों की तुलना शरीर से भी की गई है। इसमें घोष ध्वनियों को 'आत्मा' की तथा संघर्षी ध्वनियों को 'श्वास' की संज्ञा दी गई है। व्यंजनों के शरीर से संतुलन का स्पष्ट कारण इनका न्यून प्रत्यक्षीकरण हो सकता है; किन्तु श्वास का वाक् की आत्मा से पृथक्करण, यदि मल के कारण नहीं है, तो निश्चित ही इसे आदिम आरणा कहना होगा, क्योंकि प्रतिशाख्यों में श्वास तथा घोष दोनों की ही 'अनुप्रदान' (ध्वनि अवयव) में सम्मिलित किया गया है।<sup>15</sup> यह समझना भी ठीक नहीं है कि इस आरण्यक में श्वास की सर्वथा अपेक्षा की गई है, कारण कि इसमें इनका सम्बन्ध संघर्षी ध्वनियों से माना गया है जिनमें कि श्वास की प्रधानता रहती है। इसमें श्वास को घोष की अपेक्षा निम्न स्थान दिया गया है, कारण कि श्वास में घोष की अपेक्षा प्रत्यक्षीकरण भी योग्यता अधिक होती है।
3. एक अन्य स्थल पर स्पर्श-ध्वनियों को पृथ्वी, संघर्षी ध्वनियों को वायुमंडल तथा स्वरों को गगनमंडल कहा गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि स्पर्श ध्वनियों में अन्य ध्वनियों की अपेक्षा अधिक घनत्व होने के कारण ही इनका सादृश्य पृथ्वी के साथ, संघर्षी ध्वनियों में श्वास की प्रधानता के कारण उनका वायुमंडल के साथ तथा अधिक स्पष्ट रूप में प्रत्यक्षीकरण होने के कारण स्वरों का गगनमंडल की प्रदीप्त अवस्था के साथ सादृश्य दर्शाया गया है।<sup>16</sup>
4. एक अन्य स्थल पर संघर्षी ध्वनियों की श्वास से, स्पर्शों की हड़िडियों से, स्वरों की मज्जा से तथा अन्तस्थों की मांस व रक्त से तुलना की गई है। इनमें प्रथम दो की तुलना तो स्पष्ट है, किन्तु अन्तिम दो की अस्पष्ट। स्वरों का अधिक स्पष्ट रूप से प्रत्यक्षीकरण होने के कारण इनकी तुलना मांस व रक्त से की जानी चाहिए थी, न कि मज्जा से। हो सकता है कि स्पर्शों में अस्थियों के समान ही आधार तत्व की विद्यमानता के कारण इस सादृश्य की इन दोनों में दिखाया गया हो, तथा मज्जा को रक्त व मांस का आधारक समझा गया हो और इसी आधार पर, भारतीय अक्षर-विभाजन के सिद्धान्त के अनुसार, अक्षर की मूलाधार ध्वनि-स्वर की तुलना मज्जा से कर दी गई हो।
5. किन्तु एक अन्य उल्लेखनीय अंश से पता चलता है कि इस काल में ध्वनि-विज्ञान काफी उन्नत अवस्था को पहुंच चुका था। संहिता की परिभाषा के प्रसंग में अक्षरीकरण के तीन सिद्धान्तों का उल्लेख किया गया है तथा 'संहिता' की निम्नलिखित परिभाषाएँ दी गई हैं :

(अ) दो अक्षरों के अन्तरवर्ती विराम को 'संहिता' कहते थे। यह अल्पष्ट था, क्योंकि इससे अन्तरवर्ती विराम के स्वरूप पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। इससे इस बात का संकेत मिलता है कि सन्निहित अक्षर स्वतः एक इकाई थे। इससे यदि यही अर्थ अभिप्रेत था तो कहना होगा कि यह अक्षरीकरण का एक आदिम सिद्धान्त था।

(ब) 'संहिता' वह अन्तरवर्ती विराम था जो कि दो अक्षरों के स्वराघातों (accent) अथवा उनकी मात्रा (quantity) का व्यावर्तक हो। यह अधिक ग्राह्य परिभाषा थी, क्योंकि इसमें अक्षरीकरण के महत्वपूर्ण घटक-तत्वों, स्वराघात तथा मात्रा का भी निवेश किया गया था।

(स) 'संहिता' दो अक्षरों का वह उच्चारण था जो कि न तो एक-दूसरे से सर्वथा पृथक् हो तथा न एकीकृत ही। इससे अक्षरीकरण की एक ऐसी विचार-पद्धति का संकेत मिलता है जो कि सामान्यतः आधुनिक भाषा विज्ञान को भी मान्य हो सकती है; क्योंकि अक्षर-विभाजन का मूल-सिद्धान्त सापेक्षता पर आधारित है, जिसमें कि श्रोता को वाक्-प्रवाह में प्राधान्य की श्रृंखला के विघटन का साक्षात्कार होता है। एक श्रोता को जिस बिन्दु पर अक्षर की निरन्तरता प्रतीत होती है दूसरे श्रोता को वहीं अक्षर-भंग की प्रतीति हो सकती है, यद्यपि वाक्-प्रवाह के बीच में होने वाले प्रमुख विघटन के स्थल के विषय में सभी श्रोता एकमत हो सकते हैं।<sup>17</sup>

इन विवेचानों से पता चलता है कि में ही भारत में ध्वनि-विज्ञान का अध्ययन कितनी उन्नत अवस्था को प्राप्त हो चुका था।

किन्तु 'ऐतरेय ब्राह्मण' में ध्वनि-विज्ञान को कोई विशेष नाम नहीं दिया गया था। इसके लिए विशेष संज्ञा 'शिक्षा' ही चलती थी। इसके प्रसार-क्षेत्र के विकास की चार अवस्थाओं का उल्लेख इस प्रकार उपलब्ध होता है:

1. ऐसा प्रतीत होता है कि पहले-पहल इस शब्द का प्रयोग केवल प्रारम्भिक 'उच्चारण शिक्षा-सिद्धान्त' तक ही सीमित रखा गया था। इनकी शाब्दिक व्युत्पत्ति से यही प्रतीत होता है। इसके क्षेत्र का सर्वप्रथम उल्लेख तैत्तिरीय उपनिषद् में मिलता है।<sup>18</sup> तथा इसमें पृथक्-पृथक् ध्वनियों, स्वराघात, मात्रा तथा वैदिक मंत्रों के उच्चारण की शिक्षा सम्मिलित है। इस शब्द का इस अर्थ में निर्देश, विष्णुमित्र, सायण मधुसूदन सरस्वती आदि अनेक भाष्यकारों में किया है।

इससे अगली अवस्था में 'ध्वनि विज्ञान' का क्षेत्र विकसित होकर 'सामान्य ध्वनि-विज्ञान' की कोटि तक पहुंच गया। 'वाजसनेयी प्रातिशाख्य' में इस शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया गया है। इसमें शिक्षा द्वारा विहित ध्वनियों का जिक्र किया गया है तथा वाज शाखा में इन ध्वनियों के विशेष प्रयोग का विवरण भी दिया गया है। जैसा कि अभी स्पष्ट किया जायेगा कि तब 'शिक्षा' शब्द से 'सामान्य ध्वनि शास्त्र' (generalphonetics) तथा 'प्रतिशाख्य' से 'व्यावहारिक ध्वनिशास्त्र' (applied phonetics) अभिप्रेत था। इससे अगली अवस्था में 'शिक्षा' पाठशालाध्यापक का कार्य छोड़कर ध्वनि-शास्त्र के सामान्य सिद्धान्तों के व्याख्याता के रूप में हमारे सामने आती है। इसके उपरान्त प्रातिशाख्यों ने इन्हीं सिद्धान्तों को अपनी शाखाओं से सम्बद्ध विभिन्न वैदिक मूल-स्थलों पर लागू किया था यहां पर यह बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि पाणिनि ने क्रमादि गण की सूची से, जिसमें कि पांच विषयों का परिगणन किया गया है, 'शिक्षा' को 'क्रम' तथा 'पद' से पृथक् रूप में गिनाया है इसका अर्थ हुआ कि वे दोनों विशेष अर्थ में शिक्षा की परिधि से बाह्य थे।

अब यहां यह महत्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या हम किसी ऐसी 'शिक्षा' या शिक्षा ग्रन्थों को खोज सकते हैं, जो कि प्रातिशाख्यों में प्रतिपादित ध्वनिशास्त्र के सामान्य सिद्धान्तों के स्रोत रहे हों। वर्तमान रूप में उपलब्ध शिक्षाओं को देखते हुए तो इस प्रश्न का उत्तर नकारात्मक ही होगा। परम्परा तो पाणिनीय शिक्षा को ही इस वेदांग का मूलाधार मानती है। मधुसूदन सरस्वती के अनुसार पाणिनि के द्वारा पांच भागों में निरूपित शिक्षा ही सभी वेदों में सर्व-सामान्य रूप से प्रचलित शिक्षा का रूप है। इनका प्रारम्भ ही 'अब शिक्षा की व्याख्या करता हूँ' इत्यादि शब्दों से होता है। इसके अतिरिक्त 'पारस्कर गृह्यसूत्र की भूमिका' में श्री राम-कृष्ण ने शिक्षा का उल्लेख मूलागम (basic shastra) के रूप में किया है। किन्तु साथ ही इस बात के भी

संकेत मिलते हैं कि वाज प्राति द्वारा संकेतित शिक्षा पाणिनीय शिक्षा नहीं थी।<sup>10</sup>

(अ) परम्परा के अनुसार पाणिनि शिक्षा का लेखक पाणिनि नहीं अपितु पिंगल है, जिसे कि उसका छोटा भाई कहा गया है। पाणिनि शिक्षा के 'भाष्यशिक्षा प्रकाश' के प्रथम श्लोक में ही कहा गया है कि "मैं पहले पिंगलाचार्य के सूत्रों की व्याख्या करके फिर पाणिनि का अनुसरण करनेवाली उसकी 'शिक्षा' की व्याख्या करूंगा।" इसके बाद पिंगल के विषय में लिखा है कि वह पाणिनि का ही अनुयायी था तथा अपने बड़े भाई (पाणिनि) के निर्देश पर ही उसने इन शिक्षा-सूत्रों की रचना की थी। अब, जैसा कि इस परम्परा को स्वीकार करने में कोई आपत्ति भी नहीं, यदि इस शिक्षा का रचयिता पिंगल को ही लिख जाए तो यह कहना कठिन होगा कि इनका समय प्रातिशाख्यों से भी पहले है। सर्वप्रथम तो उनके द्वारा किया गया लौकिक छन्दों का विस्तृत विवरण इस बात का सूचक है कि उनका समय प्रातिशाख्यों से पूर्व का नहीं हो सकता। दूसरी बात यह है कि कुछ प्रातिशाख्यों का मूलरूप अवश्य ही पाणिनि से भी पहले का है जब कि पिंगलाचार्य सर्व-स्वीकृत रूप में पाणिनि से उतरकालीन हैं। अतः उनका समय प्रातिशाख्यों से पहले नहीं हो सकता। इसलिए परम्परा इस तथ्य की पुष्टि करने में असमर्थ है कि प्रातिशाख्यों में उपलब्ध ध्वनि-विज्ञान के सामान्य सिद्धान्तों का आधार नहीं कि इस शिक्षा का मूलरूप प्रातिशाख्यों से भी पहले का है; क्योंकि यही चीजें अन्य कई शिक्षाओं में भी सर्वसामान्य हैं, तथा याज्ञवल्क्य शिक्षा, नारद शिक्षा, मान्डू शिक्षा तथा पार शिक्षा। इसके लिए केवल मात्र सर्वथा निश्चित धारणा, जिसकी कि पर्याप्त सम्भावना रूप में उपलब्ध सामग्री ही प्रस्तुत शिक्षा का मूल रूप रही हो।

(ब) किन्तु हमारे पास इस बात के भी बड़े दिलचस्प आन्तरिक प्रमाण हैं जो कि इस बात का संकेत देते हैं कि पाणिनीय शिक्षा प्रातिशाख्यों की आदि प्ररूप (prototype) नहीं थी।

इस आभ्यन्तर प्रमाण का सम्बन्ध र, ऋ तथा लृ के उच्चारण से हैं, जो कि इस बात का संकेत देते हैं कि पाणिनीय शिक्षा प्रातिशाख्यों का कथन है कि इसकी उत्पत्ति दांत अथवा दन्तकूट से होती है, इस प्रकार हम देखते हैं कि किसी भी प्रातिशाख्य में ऋ का उच्चारण स्थान मूर्धा को नहीं माना गया है, जो कि पाणिनीय शिक्षा में माना गया है। जहां तक लृ का सम्बन्ध है इसके लिए कहा जा सकता है कि इस विषय में ऋग् प्राति तथा अथर्व प्रातिशाख्यों में व्यक्त विचार सब से प्राचीन तथा अधिक संगत प्रतीत होते हैं—क्योंकि इन दोनों में ही इसे जिह्मामूलीय माना गया है। जब कक पाणिनीय शिक्षा इसे दन्त्य-ध्वनि मानती है। इसके अतिरिक्त ऐसा भी दिखई देता है कि पाणिनीय शिक्षा में ऋ तथा लृ के उच्चारण-स्थान का जो भेद माना गया है वह पाणिनीय परम्परा के प्राचीन वैयाकरणों को मान्य नहीं था। क्योंकि पाणिनि के सूत्र पर टिप्पणी करते हुए कात्यायन और पतंजलि दोनों ही लिखते हैं कि होतृ+लृकारः—'होतृकारः' अथवा 'होल्लृकारः' जैसे प्रयोगों में संयुक्त ऋ अथवा लृ की दीर्घता को दिखने के लिए ही पाणिनि ने इनके उच्चारण में सवर्णता दिखलाई होगी। ये उदाहरण केवल पतंजलि ने दिए हैं। जैसा कि आगामी विवरणों से स्पष्ट होगा :

ऋग् प्राति— दन्तमूल अथवा कुछ टीकाकारों के अनुसार दन्तकूट, वाजसनेयी प्राति—दन्तमूल।

अथर्व प्राति—दन्तमूल अथवा उसका निकटवर्ती भाग।

तैति प्राति— जिह्वाग्र का मध्यभाग दांतों के निकटस्थ स्थान का स्पर्श करता है।<sup>11</sup>

वैदिकाभरण में र को 'रेफ' कहने के आधार की व्याख्या इस प्रकार की गई है—इसको 'रेफ' इसलिए कहा जाता है कि इसके उच्चचारण में कपड़े फाड़ने की सी आवाज होती है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है। कि यह एक लेडित (rolled) ध्वनि थी इसलिए इसे दन्त्य-ध्वनि मान लिया गया था।<sup>12</sup>

ऋ तथा लृ के उच्चारण के विषय में भी कुछ इसी के सदृश भेद इष्टिगोचर होते हैं— ऋग् प्राति— ऋ तथा लृ दोनों का ही उच्चारण स्थान जिह्वा का मूल भाग होने के कारण इन्हें ' जिह्मामूलीय' कहा गया है।

वाज प्राति—ऋ जिह्मामूलीय लृ दन्त्य।

अथर्व प्राति—इसके भाष्य के अनुसार दोनों ही जिह्मामूलीय हैं।

तैति प्राति—ऋ, लृ दोनों ही दन्तमूलीय अथवा वत्स्य।

ऋक् तंत्र—इसमें ऋ को जिह्मामूलीय कहा है लृ का कोई उल्लेख नहीं।

इससे प्रतीत होता है कि इन वैयाकरणों ने इस विषय में ऋग् एवं अथर्व प्रातिशाख्यों के विधान का ही अनुसरण किया, जिनके अनुसार ऋ तथा लृ दोनों ही जिह्मामूलीय ध्वनियां थीं। इससे पर्याप्त उतरकाल के वैयाकरण भट्टोजी दीक्षित ने इन दोनों में परस्पर विरोधी विधानों की ओर ध्यान न देकर इन दोनों का अर्थात् कात्यायन एवं पाणिनि शिक्षा का साथ-साथ उल्लेख कर दिया है।

इसके अतिरिक्त तीन शिक्षाएं ऐसी भी हैं जिनमें कि र, ऋ एवं लृ के उच्चारण का वैसा ही विधान किया गया है जैसा कि प्रातिशाख्यों में किया गया है। इनके नाम हैं—व्यास शिक्षा, याज्ञ शिक्षा तथा वर्णरत्न—दीपिका शिक्षा। इनमें व्यास शिक्षा प्रातिशाख्यों का आदि प्ररूप प्रतीत नहीं होती, क्योंकि यह स्वतः तैति प्राति का अनुसरण करती है। याज्ञ शिक्षा ने इस उच्चारण के विधान के लिए स्वयं वाज प्राति को उद्धृत किया है, वर्ण शि एक संग्रह मात्र प्रतीत होती है जैसा कि आगामी विचार-विमर्श से स्पष्ट है—पाणिनीय शिक्षा के दृष्टिकोण के अनुरूप उपर्युक्त ध्वनियों के उच्चारण का विधान करने वाली शिक्षाओं के नाम हैं— आपिशलि तथा चारा शिक्षा। पाणिनीय शिक्षा में सौराष्ट्र प्रदेश का उल्लेख किया गया है, जो कि वर्तमान गुजरात का दक्षिणी प्रदेश ठहरता है। आपात दृष्टि से ऐसा लगता है कि र आदि का जो उच्चारण इसमें बताया गया है वह देश के इस भाग में अथवा इसके निकटवर्ती प्रदेशों में प्रचलित था, किन्तु यह सम्भावना इसके साथ ही जाती रहती है जब हम देखते हैं कि इसके विपरीत उच्चारण का विधान करनेवाली याज्ञ शिक्षा में भी सौराष्ट्र के विषय में एक बिल्कुल ऐसा ही श्लोक दिया गया है ऋ और र के मूर्धन्य उच्चारण का सर्वप्रथम उपलब्ध लेखा चन्द्रगोमिन् के 'वर्णसूत्र' में पाया जाता है, जिसकी निम्न सीमा लीविश (Liebich) के अनुसार ईसा की सातवीं शताब्दी के लगभग है।<sup>13</sup>

यह सम्भव है कि पाणिनि के अनुयायी उतरकालीन वैयाकरणों ने तथा कुछेक शिक्षाओं ने भी इस विचार को चन्द्रगोमिन् से लिया हो जिसका कि उतरकालीन भारतीय व्याकरण-ग्रन्थों पर काफी प्रभाव रहा है। इसमें भी सन्देह नहीं कि वास्तव में देश में र तथा ऋ के दन्त्य तथा मूर्धन्य दोनों ही उच्चारण प्रचलित रहे हों। क्योंकि संस्कृत के र+त गुच्छ के अनुरूपों के लिए हमें कुछ आधुनिक बोलियों में त तथा कुछ बालियों में ट्ट रूप मिलते हैं, किन्तु संस्कृत ऋ+त गुच्छ के लिए पश्चिमी बोलियों में इ, उ+त, दक्षिणी बोलियों में अ+त तथा पूर्वी बोलियों में अट उपलब्ध होता है। उदाहरणार्थ, अशोक के पूर्वी शिलालेखों एवं सिंहली भाषा में हमें संस्कृत के वर्त-के लिए वट्टति, वटनु रूप मिलते हैं (तुल आधुनिक बिहारी में 'बाटे' वह है)। किन्तु अशोक के पश्चिमी शिलालेखों एवं कुछेक पश्चिमी भाषाओं में इसके स्थान पर दन्त्यगुच्छ त मिलता है, यथा—वतति, सिन्धी—वतणु। इसलिए यह भी असम्भव नहीं कि पाणिनीय शिक्षा की रचना किसी पूर्वी परिवार की भाषा के क्षेत्र में हुई हो। चूंकि इस शिक्षा के रचना-स्थान के विषय में कोई सुदृढ़ भौगोलिक सामग्री उपलब्ध नहीं; अतः यह सारा विषय ही अनिश्चितता से आवृत है। फिर भी उपर्युक्त विवेचन से इस बात का संकेत अवश्य मिलता है कि पाणिनीय शिक्षा प्रातिशाख्यों की आदि प्ररूप नहीं थी।

पाणिनीय शिक्षा का संक्षिप्त रूप अग्निपुराण में भी पाया जाता है जिसकी रचना, विल्सन के अनुसार, भारत पर मुसलमानों के आक्रमण से कुछ पूर्व में हुई थी। इसमें केवल बाईस श्लोक हैं, पर पाणिनि के नाम का कोई उल्लेख नहीं। किन्तु बनारस से प्रकाशित 'पाणिनि शिक्षा' में बासठ श्लोक हैं तथा आदि व अन्त दोनों ही स्थलों पर पाणिनि का नाम दिया गया है। यह भी सम्भव है कि 'पाणिनि शिक्षा' जिस रूप में हमें आजकल उपलब्ध होती है उसकी रचना मुसलमानों के आक्रमण के बाद में हुई हो तथा पाणिनि के अनुयायी उतरकालीन वैयाकरणों ने इसे इसी रूप में स्वीकार कर लिया हो। किन्तु इस परम्परा के प्राचीन वैयाकरणों की कृतियों से इस बात का कोई स्पष्ट संकेत नहीं मिलता कि उन्होंने केवल इसी शिक्षा का अनुसरण किया था। तथाच दूसरी ओर कैयट द्वारा उच्चारण में ग्यारह प्रकार के बाह्य प्रयत्नों का निर्देश इस बात का संकेत देता है कि उसने सम्भवतः 'प्राणिनीय शिक्षा' को नहीं अपितु 'आपिशलि शिक्षा' को सम्मुख रखकर ऐसा किया होगा, क्योंकि तैत्ति प्राति के समान ही 'पाणिनीय शिक्षा' भी ध्वनियों का वर्णिकरण पांच सिद्धान्तों पर करती है, ये हैं— आघात, मात्रा, उच्चारण, स्थान, प्रयत्न एवं ध्वनि सामग्री; किन्तु कैयट ने केवल ग्यारह प्रकार के बाह्य प्रयत्नों का ही उल्लेख किया है, जिनमें अन्य तत्त्वों के अतिरिक्त श्वास, घोष, संवृत, विवृत, तथा तीनों प्रकार के आघातों (उदातादि स्वरों) का भी समावेश हो जाता है। इस प्रकार शिक्षा में तो आघात, श्वास—घोष सामग्री (अनुप्रदान) तथा उच्चारणात्मक प्रयत्न को तीन भिन्न—भिन्न कोटियों में माना गया है, किन्तु कैयट ने इन सभी का समावेश बाह्य प्रयत्नों का यह वर्णिकरण 'आपिशलि शिक्षा' में भी पाया जाता है, इसका आधार उच्चारण के प्रमुख करण—जिह्वा, ओष्ठ आदि के अतिरिक्त, अन्य करणों को माना गया है। बहुत सम्भव है कि कैयट ने इसी शिक्षा को ध्यान में रखकर ग्यारह प्रकार के बाह्य प्रयत्नों का उल्लेख किया हो, क्योंकि इसे परम्परा से 'पाणिनीय शिक्षा' से भी प्राचीनतर माना जाता है।<sup>14</sup>

3. उपर्युक्त अनुच्छेदों में शिक्षाओं के विकास की उस द्वितीय अवस्था पर विचार है जिसमें कि इन्होंने प्रातिशाख्यों के लिए ध्वनि—विज्ञान के सामान्य विद्वान्त प्रस्तुत किए थे; किन्तु यह कल्पना नहीं करनी चाहिए कि प्रातिशाख्यों के आविर्भाव के साथ ही ध्वनि—विज्ञान के सामान्य सिद्धान्तों का चिन्तन रूक गया होगा। इसके विपरीत प्रतीत ऐसा होता है कि प्रातिशाख्यों ने ध्वनि—विज्ञान के प्रति जनरुचि को और भी अधिक जागृत किया जिसके फलस्वरूप वैदिक मंत्रों के शुद्ध उच्चारण के लिए आवश्यक एवं सुव्यवस्थित प्रातिशाख्यों के विधानों एवं विस्तृत विवरणों के साथ—साथ लौकिक संस्कृत के उच्चारण के विषय में भी ध्वनि सम्बन्धी तत्वों के सूक्ष्म निरीक्षण की दृष्टि का विकास होता गया। वर्तमान रूप में उपलब्ध शिक्षाओं को प्राति—शाख्यों का केवल संक्षिप्त रूप मात्र नहीं कहा जा सकता। जैसा कि आगे चलकर दिखाया जायेगा, इनमें से अनेक शिक्षाएं ऐसी हैं जिनका कि ध्वनि—विज्ञान में अपना विशिष्ट योगदान है। इनकी उन नवीन देनों में से कुछ का यहां विवरण दिया जा सकता है जो कि प्रातिशाख्यों में भी कटिनाई से ही पाई जा सकेंगी।

क—याज्ञवल्क्य शिक्षा में शुद्ध उच्चारण की सामान्य अवस्थाओं के सम्बन्ध में जो विवरण उपलब्ध है, वह इस प्रकार है:

(1) अच्छा स्वास्थ्य, (2) शान्त स्वभाव, (3) घबराहट का अभाव, (4) ध्वनियों का लोप न करना, (5) अधिक बल देकर न बोलना, (6) गाकर न बोलना, (7) कांपते हुए स्वर से न बोलना, (8) शब्द के आदि तथा अन्त की ध्वनियों को स्पष्टतापूर्वक उच्चारित करना, (9) ध्वनि में परुषता या रूक्षता का न होना, (10) होठों को लमकाकर तथा अस्पष्टता से न बोलना, (11) अनुनासिकता का रंग देकर न बोलना, (12) वाग्धारा को भंग करके अर्थात् रूक—रूककर न बोलना तथा जिह्वा को अकड़ा करके न बोलना। इसके अतिरिक्त दांतों और होठों को ठीक प्रकार से रखना भी

एक विशेषता बताई गई है। नारद शिक्षा में अन्य आवश्यक तत्वों में कण्ठ का स्वच्छ होना भी एक आवश्यक तत्व समझा गया है तथा ओद्ब्राजि के कथन का अनुमोदन करते हुए दातुन से दांतों और कण्ठ को स्वच्छ रखने की भी सिफारिश करवाई है।<sup>15</sup>

ख—स्वर तथा व्यंजनों के सम्बन्ध—विषयक सूक्ष्म विवरणों के लिए देखिए प्रथम अध्याय। यदि शिक्षा—ग्रन्थों में इस पर सामग्री उपलब्ध न होती तो यह विषय विशेष अस्पष्ट ही रहता। यह विशेष रूप से स्मरणीय है कि प्रातिशाख्यों में निर्दिष्ट इन अतिसूक्ष्म प्रसंगों की व्याख्या के लिए प्रायः सभी व्याख्याकारों ने शिक्षा—ग्रन्थों का ही सहारा लिया है। इसी प्रकार हम देखते हैं कि भारत में ध्वनि—विज्ञान के विकास की दिशा में इन ग्रन्थों ने मार्गदर्शन का कार्य किया है।

ग—आघात का स्वरूप: वैदिक स्वर प्रतिक्रिया के स्वरूप के विषय में प्रातिशाख्यों के विधान स्पष्ट नहीं, किन्तु शिक्षा—ग्रन्थों में इस पर स्पष्ट रूप से विचार किया गया है। याज्ञ शिक्षा में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि वैदिक आघात संगीतात्मक था। उसके अनुसार "गान्धर्व वेद में जो षड्ज आदि स्वरसप्तक है उसे ही वेद में उदातादि तीन स्वर समझना चाहिए"

4— 'शिक्षा' शब्द का चतुर्थ क्षेत्र या व्यावहारिक ध्वनि—विज्ञान अर्थात् प्रातिशाख्यों के साथ इसकी एक रूपता, जिसका कि विकास आवश्यक रूप से उसी कालक्रम में नहीं हुआ। विष्णुमित्र ने ऋग् प्राति को भगवान् शौनक द्वारा विरचित 'शिक्षाशस्त्र' कहा है। हमें इस बात को भी नहीं भूलना चाहिए कि शिक्षाग्रन्थों और प्रातिशाख्यों के बीच कोई विभाजक लक्षण सम्भव नहीं था। प्रातिशाख्यों के रचयिता स्वयं ध्वनि—विज्ञान के मान्य विद्वान् थे तथा अक्षर—विभाजन, स्वाराघात आदि पर अभिव्यक्त उनके विचार सामान्य ध्वनि—विज्ञान को महत्वपूर्ण योगदान थे। इस प्रकार, शिक्षाओं और प्रातिशाख्यों के बीच एक धनिष्ठ सम्बन्ध था तथा दोनों ने ही मिलकर एक दूसरे को आगे बढ़ाया था। हमारे आगामी विवेचनों से स्पष्ट हो जायेगा कि प्रातिशाख्यों के लिए 'शिक्षा' शब्द का प्रयोग गौण अथवा औपचारिक अर्थ में किया गया था।

#### संदर्भ सूची

1. ऋग्वेद 1.164.45
2. ऋग्वेद 10.71.2
3. पातञ्जल महाभाष्य (भूमिका भाग)
4. पातञ्जल महाभाष्य (कीलहार्न संस्करण 1990 पृ 22, 117)
5. ऋवप्रातिशाख्य 13.1
6. प्राचीन भारतीय वैकारणों के ध्वन्यात्मक विचारों का अध्ययन (सिद्धेश्वर वर्मा) पृष्ठ 5 (भूमिका भाग)
7. वही पृष्ठ संख्या 5
8. तैत्तिरीय उपनिषद् 1.2
9. पाणिनीय अष्टाध्यायी 4.2.61.
10. प्रस्थान भेद पृष्ठ 16.
11. तैत्तिरीय प्रातिशाख्य 2.18
12. तैत्तिरीय प्रातिशाख्य 1.19
13. दास दातुम् चान्द्रगोमिन्स् उन्ट कालिदासाज बैस्तो 1903 पृ 11
14. प्राचीन भारतीय वैयाकरणों के ध्वन्यात्मक विचारों का विवेचनात्मक अध्ययन (सिद्धेश्वर वर्मा) पृ 44
15. याज्ञवल्क्य शिक्षा पृ 56